Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 16, Issue No. 2, February-2019, ISSN 2230-7540

हरिशंकर परसाई के साहित्य में यथार्थ - चेतना

Sunita*

M.A Hindi (UGC NET) VPO - Ismaila (9B), Rohtak

सार - हरिशंकर परसाई के व्यंग्य साहित्य में यथार्थबोध का विश्लेषण किया गया है । "यथार्थ कृत्यात्मकता में निहित होता है । इसलिए उसे केवल क्रियात्मक रूप से जाना जा सकता है ।हर वह तथ्य जो क्रियमाण या प्रवृत्तमान है , यथार्थ है ।यथार्थ का प्रकटीकरण गति या प्रवृत्ति के द्वारा होता है , इसलिए गति या प्रवृत्ति यथार्थ के रूपाकार हैं । जो घटित हो रहा है , वह यथार्थ है और जिसके घटित होने की संभाव्यता है , वह संभावना है । यथार्थ अस्तित्वभूत होता है, उसका अवबोधन इन्द्रियों के माध्यम से संभव है लेकिन संभावना परोक्ष और अनगढ़ होती है । यथार्थ एक साकार संभावना होती है जबकि संभावना एक गर्भित यथार्थ होता है, जिसके अवतरण का न तो समय निशित होता है और न स्वयं अवतरण। यथार्थ वह है जो अपने विद्यमान रूप में है और आदर्श वह है जो देश, काल और परिस्थिति के अनुसार वांछनीय और उचित है । इसलिए आदर्श हमेशा श्रेयस्कर होते हैं ।कहना न होगा कि हमारा बल आदर्श के यथार्थीकरण पर होना चाहिए ।"[1] इसी क्रम में यथार्थ का बोध होने से तात्पर्य यह है कि जीवन की समग्र परिस्थितियों के प्रति ईमानदारी से उसके अच्छे-बुरे दोनों पक्षों को आत्मसात करते हुए उनका चित्रण करना ।

----------X----------

हरिशंकर परसाई जी मूलतः व्यंग्य साहित्यकार है,इसलिए उन्होंने मनुष्य की हीनताओं,कुरुपताओं के साथ-साथ राजनीति,सरकारी तंत्र,जाति-व्यवस्था के तंत्र आदि सभी क्षेत्रों के अंदर मौजूद उनकी कुरुपताओं, विषमताओं, असमानता, शोषण, अत्याचार आदि का अधिक चित्रण किया हैं । यथार्थ-बोध सुधारक साहित्य का प्रथम अस्त्र है। किसी भी सामाजिक स्थिति के प्रति विद्रोह करते समय साहित्यकार उसका यथार्थवादी चित्रण उपस्थित करता हैं। जड़ से गतिशील समाज के बनने की प्रक्रिया में बोध को जितना तीक्ष्ण रुप में अभिव्यक्ति मिलती है,वह साहित्य उतना ही अधिक मारक एवं प्रासंगिक हो उठता है । विचारधारात्मक स्तर गहरी विश्लेषणात्मक क्षमता के अभाव में व्यंग्य कमजोर बनकर उभरता है । परसाई जी के व्यंग्य यथार्थ-बोध के साथ-साथ पाठक में आक्रोश को जन्म देते है, ताकि रूढ़ परिस्थितियों को बदला जा सकें । हिन्दी साहित्य में व्यंग्य के साथ यथार्थबोध को सबसे तीक्ष्ण रूप से अभिव्यक्त करने वाले कबीर है । परसाई जी ने कबीर,तुलसी,भारतेंदु,नागार्जुन आदि की परंपरा को केवल आगे ही नहीं बढ़ाया,बल्कि व्यंग्य को स्वतंत्र विधा के तौर पर स्थापित करने में भी अहम भूमिका निभाई। स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज में जो उत्साह, उमंग और ऊर्जा थी, धीरे-धारे वह राजनीतिक स्वार्थों और गलत नीतियों के साथ अफसरशाही में फैले भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, अवसरवादिता आदि के कारण मोहभंग का सबब बनती चली गई । समाज में विषमताएं एवं विद्रूपताएं कम होने का नाम नहीं ले रही थी । सत्ता और राजनीति से जो उम्मीद बंधी थी, वो धीरे-धीरे क्षीण होती चली गई । युवाओं में आक्रोश,अवसाद और क्रोध बढ़ता चला गया।

सन् 1960 तक राजनीति में जो उथल पुथल मची उसके परिणामस्वरूप 1960 के बाद मोहभंग का दौर आया । मोहभंग कोई अवधारणा नहीं है, बल्कि यह एक स्थिति है जो स्वतंत्र भारत की राजनीति से उत्पन्न हुई, परन्तु यह अचानक से आई स्थिति नहीं थी । स्वतंत्रता के बाद से ही इस स्थिति के उत्पन्न होने के अंकुर फूटने लगे थे । इतिहास की अशांत, पेचीदा और निर्णायक घटनाओं से गुजरते हुए 1947 में आज़ादी मिलने के साथ हमारे स्वतंत्र भारत की रचना हुई । स्वतंत्रता के साथ भारत में परिवर्तन का नया दौर शुरू हुआ । अगस्त 1947 में सत्ता कांग्रेस के हाथ में आई । जिस कांग्रेस ने अब तक राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्त्व किया था । उसी ने अब देश का शासन संभाला, लेकिन आज़ादी मिलने के पीछे उसकी अनेक सीमाएं थी । देश में तमाम तरह की उथल-पुथल मची । अंग्रेजी शासन ने कांग्रेस के सामने जो योजनाएं रखी उसका परिणाम देश के विभाजन के रूप में सामने आया । इससे हुआ यह कि सत्ता तो कांग्रेस के हाथ में आई परन्तु देश दो खंडों में विभाजित हो गया । गाँधी की मृत्यु के बाद स्वतंत्र भारत की बागडौर नेहरु के हाथ में आयी । इसलिए

www.ignited.in

1947 से 1964 तक के दौर को 'नेहरु-युग' के नाम से जाना जाता है । नेहरु की अगुवाई में भारतीय संविधान की स्थापना के साथ ही स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व इन तीन संकल्पनाओं को लेकर भारत में लोकतंत्र की स्थापना की गयी । इस सन्दर्भ में रजनी कोठारी ने कहा है - "अगले दस वर्षों तक नेहरु का प्रताप-सूर्य मध्याह्न पर रहा । उनके जीवन के दो उद्देश्य थे :-लोकतंत्र और आर्थिक विकास । और उन्होंने सारी शक्ति से देश को इन लक्ष्यों की ओर ले जाने का यत्न किया ।"[2] लोकतंत्र की स्थापना से ऐसी शासन प्रणाली की इच्छा व्यक्त की गयी जो अपनी कार्य-पद्धति से गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा, बेरोजगारी, जाति, धर्म, लिंग, और भाषा के आधार पर व्याप्त सामाजिक भेदभाव, समाज में व्यापक रूप में फैले भ्रष्टाचार, आर्थिक असमानताओं को दूर करने के साथ-साथ न्याय आधारित समाज की स्थापना करे । परन्तु इस लोकतंत्र या जनतंत्र में न तो व्यवस्था इसका सही स्वरुप समझ पाई और न ही जनता इसे समझ पाई । इसकी मोहकता के कारण जनता ने इसे स्वीकार किया ।अभय कुमार दूबे ने इस स्थिति पर विचार करते हुए कहा –"स्वतंत्रता के बाद की भारतीय राजनीति का इतिहास दरअसल वह कहानी है, जो बताती है कि आम जनता ने इस निमंत्रण को कैसे शुरू-शुरू में हिचकते हुए, फिर मनोरंजन की मुद्रा में और फिर प्रबल आवेग के साथ स्वीकार किया और अंततः वह इस खेल में रम गई ।"[3] छठे दशक के अंत और सातवें दशक के प्रारंभ का समय था। यह नेहरू युग से, जिसे हम प्रतीक्षा का युग भी कह सकते हैं, मोहभंग का समय था। यह मोहभंग साहित्य में कई स्तरों पर दिखाई देता है। हरिशंकर परसाई और अमरकांत की कहानियों में यह मोहभंग बड़े स्तर पर दिखता है। इसी समय साहित्य में अकविता के आंदोलन ने जोर पकड़ा था । "हिंदी के महापंडित, महामंडित साहित्यकार अज्ञेय ने हरिशंकर परसाई को लक्षित होते लिखा था-'दुख सबको मांजता है परन्तु परसाई को इतना रगड़-रगड़ कर मांजा कि पतीली की भांति उसके हृदय में अनेक छिद्र हो गये, जिनमें से प्रस्फुटित व्यंग्यों की संवेदना ने समाज को ऐसा मांजा कि उसे अपना असली चेहरा पहचानने की सुविधा हो गई।' सचमुच ही परसाई ने समाज का चित्रण करते हुए जो व्यंग्य-बाण कसे हैं 'देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर' कसौटी के हैं। 'भेड़िया और भेड़ें' कहानी का एक व्यंग्य अंश आज तो और भी प्रासंगिक हो गया है- 'पंचायत में भेड़ों के हितों की रक्षा के लिए भेडिये प्रतिनिधि बनकर आए और भेडियों ने भेड़ों की भलाई के लिए पहला कानून बनाया कि हर भेडिये को सवेरे नाश्ते के लिए भेड़ का एक मुलायम बच्चा दिया जायेगा, दोपहर के भोजन में एक पूरी भेड़ तथा शाम को स्वास्थ्य के ख्याल से कम खाना चाहिए, इसलिए आधी भेड़ दी जाए।' इस दृष्टि से परसाई हिंदी व्यंग्य के सम्राट लेखक थे।"[4] परसाई ने इस व्यंग्य के माध्यम से सत्ता पर काबिज़ भेड़िये के द्वारा जनता के साथ भेड़ वाला व्यवहार किया गया , इसको चित्रित किया है । परसाई आगे लिखते है -"हमारा भ्रम है कि हमारे लोकतंत्र की जड़े मजबूत है,टूट चुका है । हम समझते थे, यह लोकतंत्र वटवृक्ष है । कैसी भी आँधी आए उखड़ेगा नहीं । रोपा इसी उद्देश्य से था । मगर सिद्धांतहीन बेईमान,गैरजिम्मेदार हमारे नेताओं ने उसी गमले का पौधा बना दिया है । अब यह हाल है कि कोई भी बैल, गधा,भैंसा उस पर मारकर पंत नोच लेता है । जिन्हें पांच साल को चुन दिया, उन्होंने अपने को ही देश मान लिया ।"[5] मोहभंग घटना नहीं, प्रक्रिया है। होते होते होता है। ऐसा नहीं होता कि सुबह सो कर उठे और बीती रात की किसी घटना की वजह से मोहभंग हो गया। व्यक्तिगत जीवन में ऐसा बिल्कुल नहीं होता। समाज में इसकी कोई मिसाल नहीं मिलती। जाहिर है, जो व्यक्ति और समाज में नहीं है, राजनीति में और मुश्किल से दिखता है । व्यवस्था लोकतांत्रिक हो तो इसे नामुमकिन समझिए ।

दरअसल, आमलोगों के लिए चुनाव के वास्तविक मुद्दे वही होते हैं, जो चुनाव के पहले और उसके बाद भी वास्तविक बने रहते हैं । जो उन्हें छूते हैं और मुतास्सिर करते हैं। जिन पर उनकी जिंदगियां निर्भर करती हैं । इस नज़र से यह अवधारणा खोखली लगती है कि चुनावी मुद्दा जैसी कोई चीज़ होती भी है । सहानुभूति को यकीनन इसमें शामिल नहीं किया जा सकता ।इस लिहाज़ से देखा जाए तो भारत में पहले तीन आम चुनाव के दौरान मुद्दा एक ही था- सांप्रदायिक सद्भाव । सन 1947 के विभाजन की त्रासदी बहुत बड़ी थी । लाखों लोगों की जान चली गई थी और लोग उस पीड़ा की असल वजह भी देख पा रहे थे । इसी के साथ अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति का जज़्बा भी था, जिसके सामने ज़िंदगी की आम फहम मुश्किलें गौण हो गई थीं । उम्मीद की किरणें हर तरफ से हिंदुस्तान पर नाज़िल हो रही थीं । आज भी स्थिति करीब-करीब वैसी ही बनी हुई है । सांप्रदायिक सद्भाव तब भी मुद्दा था और आज भी है ।परसाई राजनीतिक दलों के दोहरे चरित्र को उजागर करते हुए लिखते है "संप्रदायवाद के खिलाफ होते हुए भी सांप्रदायिक संघ के साथ मिलकर सरकार बनाइए और जब संघ के साथ मिलकर सरकार बनाइए और जब संघ दमन कराएं तो कहिए कि संघ ने नहीं कराया, यह सिद्धांत का सही आग्रह है ।"[6]

हिन्दुस्तान की आजादी के साथ ही देश के कर्णधार बने नेहरू की अपनी कोई नीति थी ही नहीं। वे साम्यवाद और ईंग्लैड को माडल मान कर देश का विकास करना चाहते थे। यही पर

www.ignited.in

आजादी के पहले की कांग्रेस और आजादी के बाद के कांग्रेस के नीतियो में भिन्नता आ गयी। गांधी ने आजाद भारत में ग्राम स्वराज का सपना देखा था। उन्होने भारत की आत्मा को समझा था और तब के कांग्रेस पर उनकी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखता भी था। स्वतंत्रता संग्राम के समय ही गांधी ने भारत के जनमानस को समझ कर स्वदेशी व सता के विकेन्द्रीकरण का सपना देखा था। चुनाव में जनता ने कांग्रेस की उसी विचारधारा पर विश्वास कर उसे नेतृत्व सौपा। पर नेहरू ने गांधी के सपनो के उलट भारत के विकास का एक नया माडल रखा जिसका मूल ब्रिटेन और सोवियत रूस में था।सता का विकेन्द्रीकरण नहीं करने और पारदर्शिता के अभाव में भ्रष्टाचार ने उसी वक्त जड जमाना आरंभ कर दिया था। वही जनता के प्रति सीधी जवाबदेही नहीं होने के कारण जन प्रतिनीधि जनता के सेवक की भावना को आत्मसत नहीं कर सके। नेहरू के बाद लालबहादुर शास्त्री तक राजनीति में कम से कम बाहरी सुचीता पर ध्यान रखा गया। लोहिया, जेपी जैसे नेता राजनीति में अलग विचारधारा रखते हुये भी आम जनता से जुडे थे। वे जनता को झकझोरने की क्षमता रखते थे। परन्तु उसके बाद राजनीति वैचारिक प्रतिबद्धता की जगह सता सुख भोगने की माध्यम बन गयी।

इंदिरा गांधी के समय में यह स्पष्ट रूप से दिखने लगा था कि काग्रेस की एकमात्र नीति सता में बने रहना है। इसके लिये संवैधानीक या असंवैधानीक रास्तो के बीच की लकीर मिटाने का श्रेय इंदिरा गांधी को ही जाता है। कांग्रेस में भी विभाजन हुआ और बाद में जब कामराज ने भी अलग रास्ता पकड लिया तो इंदिरा ने संजय गांधी को भी राजनीति में उतारा। वही कांग्रेस में वंशवाद और उसके एक व्यक्ति पर आधारित होने की लाचारी स्पष्ट हो चुकी थी। बाद में संजय की महत्वकांक्षा बढ़ने के साथ उनका किस प्रकार दमन किया गया, यह अलग किस्सा है। यही समय था जब राजनीति में बने रहने के लिये सुचिता को दरकिनार कर देना एक शर्त बन गयी। इस समय तक भारत की जनता का कांग्रेस से मोहभंग होने लगा था। राजनीति में कई अन्य दल भी सक्रिय होने लगे।वैसे वामपंथी तो पश्चिम बंगाल और केरल में सता में पहले ही आ चुके थे पर वामपंथ ने कभी भारतीय जनमानस को समझा ही नहीं। नतीजा है कि अब तक वे देश के कुछ ही हिस्सों में सिमटे पडे हैं। 25 जून 1975 को देश में आपातकाल लगा दिया गया। वैसे आपातकाल में कुछ बहुत अच्छे भी काम किये गये। कानून व्यवस्था में सुधार और परिवार कल्याण कार्यक्रम लागु किया गया। पर जब दूबारा चुनाव हुआ तो जनता ने कांग्रेस को बुरी तरह से नकार दिया। वैसे विकल्प भी कारगर नही हो सका। जनता पार्टी के लगभग 3 साल के कार्यकाल के बाद पुनः काग्रस ही सता में आ गयी। 1984 में सता में आये राजीव गांधी ने लोगों का विश्वास अपनी तरफ खींचा।बाद में भाजपा की सरकार के समय बदलाव की आशा आम जनता में थी। पर यह भी काम की जगह नारो में ही उलझी रह गयी। भाजपा के वैचारिक प्रतिबद्धता के बदलाव से लगता है कि सता के लिये यह भी हर संभव समझौता करने को तैयार बैठी है। वर्तमान परिदृश्य पर नजर डाले तो हर तरफ सता की दौड ही नजर आ रही है। जनता का हित और देश के लिये समग्र नीति का हर तरफ अभाव है। सता और विपक्ष अलग दिखते हुये भी आपसी हित पर एक हो जाते है।राष्ट्रीय स्तर से लेकर क्षेत्रीय स्तर पर भी एक भी दल नहीं दिखाई देता जो भारत की प्रकृति क¨ समझ कर एक समग्र राजनैतिक दृष्टिकोण रखता हो। जो गठबंधन की राजनीति की विवशता की जगह देशहित के लिये नीति बनाये। जहां जनता से किये गये वादो को पूरा करने का एक निश्चित कार्ययोजना हो।

अतः हरिशंकर परसाई ने अपने समय की राजनीति को बदलते आयामों में मूल्यांकित किया तथा राजनीति से उत्पन्न मोहभंग की यथार्थ-चेतना को चित्रित एवं विश्लेषित भी किया । साहित्यकार बिना यथार्थवादी चेतना के किसी भी कालखंड का मूल्यांकन नहीं कर सकता । जबकि हरिशंकर परसाई की लेखनी ने इस क्षेत्र में महारत हासिल की थी ।

संदर्भ सूची

1. https://shreeshrakesh.wordpress.com/
2. रजनी कोठारी, भारत में राजनीति, पृ. 121, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
3. सं. अभय कुमार दुबे, लोकतंत्र के सात अध्याय, पृ. 39, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
4. http://static.dainiktribuneonline.com
5. हरिशंकर परसाई रचनावली, भाग-4, पृ. 145, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
6. हरिशंकर परसाई रचनावली, भाग-4, पृ. 146, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

Corresponding Author

Sunita*

M.A Hindi (UGC NET) VPO - Ismaila (9B), Rohtak

www.ignited.in

skhatu95@gmail.com